मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-11, अङ्क-8 जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व-13 (वि.नि.सं. 2538) अगस्त 2012

ज्ञानदर्पण

चेतन क्यों पर अपनाता है, आनन्दघन तू खुद ज्ञाता है॥टेक॥

ज्ञाता क्यों करता बनता है,
खुद क्रमबद्ध सहज पलटता है।
सब अपनी धुन में धुनता है,
तब कौन जगत में सुनता है॥1॥

उठ चेत जरा क्यों सोता है,
फिर देख ज्ञान क्या होता है।
क्यों पर का बोझा ढ़ोता है,
क्यों जीवन अपना खोता है॥2॥

पर का तू करता बनता है,
कर तो कुछ भी नहीं सकता है।
यह विश्व नियम से चलता है,
इसमें नहीं किसी का चलता है॥3॥

जो पर का असर मानता है,
वह धोखा निश्चय खाता है।
जब जबरन का विष जाता है,
तब सहज समझ में आता है॥4॥

जो द्रव्य द्वारे आता है,
वह जीवन ज्योति जगाता है।
सुखधाम चिन्तामणि ज्ञाता है,
आनन्द अनुभव नित पाता है॥5॥

प्रधान सम्पादक
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़

भूतपूर्व मुख्य सलाहकार
स्व. साहू रमेशचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़

सम्पादक मण्डल
ब्र. पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, मङ्गलायतन वि.वि.
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन
श्रीमती बीना जैन, देहरादून

मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
श्री लक्ष्मीचन्द बी. शाह, लन्दन
श्री पवन जैन, अलीगढ़
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व विशेषाङ्क - 13

क्या / कहाँ

दिव्यध्वनि में स्वतन्त्रता का नाद 3
देह-मन-वाणी से रहित आत्मा 13
अकालमरण भी स्वकाल में 22
प्रभाव : सम्यग्ज्ञान का 28
समाचार-सार 32

अङ्क के प्रकाशन में सहयोग
जयन्तीलाल डी. गुडका एवं परिवार, लन्दन
एवं
श्री कश्यप, चेतन जैन हस्ते श्री अजित जैन, बडोदरा (गुजरात)

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा *मङ्गलायतन* मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।
सम्पादक : पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़।

वीरशासन जयन्ती के अवसर पर -

दिव्यध्वनि में स्वतन्त्रता का नाद

चैतन्यमूर्ति शुद्ध परिपूर्ण आत्मस्वभाव का भान करके, फिर उसी में लीन होने पर सर्वज्ञ परमात्मदशा प्रगट होती है। भगवान सर्वज्ञदेव अपने ज्ञान में तीन काल-तीन लोक को एक समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न-भिन्न जानते हैं। उनके द्वारा ज्ञान में जैसा वस्तुस्वरूप जाना गया है, वैसा ही दिव्यध्वनि द्वारा कहा गया है। 'मैं उपदेश करूँ ' - ऐसी इच्छा भगवान के नहीं होती है; इच्छा के बिना ही सहजरूप से सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि खिरती है। जहाँ तक इच्छा होती है, वहाँ तक दिव्यध्वनि नहीं होती, बल्कि क्रम और भेदवाली वाणी होती है। इच्छा का अभाव होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होने के बाद अभेदवाणी होती है।

तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्र, केवलज्ञान-कल्याणक का महोत्सव करते हैं, समवसरण की रचना करते हैं; उसमें बारह सभाएँ भरती हैं और भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है। उस दिव्यवाणी में भगवान ने जो उपदेश किया, वह बात यहाँ चलती है।

यह विश्व, चेतन और अचेतन पदार्थों से रचित है। अनन्त आत्माएँ हैं, वे चेतन हैं और आत्मा के अलावा पाँच अचेतन द्रव्य हैं। ये सभी सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष भासित और वाणी द्वारा कथित हैं। ये छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। कोई द्रव्य किसी अन्य का कुछ कर सके - ऐसा भगवान की वाणी अथवा ज्ञान में नहीं आया है।

भगवान ने स्वाश्रयभाव प्रगट करके अपने आत्मा में सर्वज्ञता प्रगट की है। भगवान ने पर के लिए कुछ नहीं किया है। भगवान पर की कोई सहायता नहीं करते, क्योंकि अन्य जीव ऐसा पराधीन नहीं है कि उसे दूसरे की सहायता आवश्यक हो। भगवान ने भक्तों का उद्धार किया; संकट में भक्तों की सहायता की; इस प्रकार के जितने कथन होते हैं, वे सब आरोपित व्यवहार के कथन हैं। वस्तुत: किसी तत्त्व में किसी तत्त्व को कुछ भी लेने-देने की सामर्थ्य तीन काल में भी नहीं है। कोई किसी की मदद या हानि करता है - यह उपचार कथन है, अर्थात् ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।

जिसने यह माना कि 'मैं पर की सहायता करूँ' – तो उसने परपदार्थों को स्वतन्त्र नहीं माना है; पराधीन माना है तथा जिसने यह माना कि 'पर मुझे सहायता करता है' – तो उसने अपने को स्वतन्त्र न मानकर, पर का गुलाम, अर्थात् पराधीन माना है। ऐसी स्व-पर की पराधीनता की मान्यता से ही जीव, संसारपरिभ्रमण करता है। भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई तत्त्व किसी तत्त्व के आधीन नहीं है।

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य विद्यमान है। शक्तिरूप से सभी आत्माएँ भगवान हैं परन्तु अनादि से ही भगवान आत्मा को अपने स्वभाव का अज्ञान है, अर्थात् वह विकार को अपना स्वरूप मानता है। आत्मा की अवस्था में होनेवाले पुण्य-पाप के भाव, विकार हैं; वे धर्म नहीं हैं। देह की क्रिया तो जड़ है, उसमें धर्म अथवा अधर्म नहीं है। धर्म अथवा अधर्म तो आत्मा की अवस्था में होता है। विकार को अपना स्वरूप मानकर उसका कर्ता होना, अधर्म है और विकाररहित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मलदशा प्रगट होना, धर्म है।

जीव को जो अपने स्वभाव के अज्ञान से पुण्य-पाप का कर्ता-कर्मपना है, उसे भगवान धर्म नहीं कहते। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि छोड़कर, विकार का कर्ता होकर, पुण्य-पाप की वृत्तियों को अपने कर्मरूप से करता है, उसे भगवान अधर्म कहते हैं।

विकार से धर्म होता है – यह बात सर्वज्ञ के ज्ञान में नहीं आयी है और वाणी में भी ऐसा नहीं आया है तथा वस्तुस्वरूप भी ऐसा नहीं है।

अनादि का अज्ञान मिटकर, सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट हो? – यह बात इस समयसार की 71वीं गाथा में है।

विकार मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ – ऐसी जो कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है, वह अज्ञान है और उससे जीव, संसार में परिभ्रमण करता है – ऐसा श्री आचार्यदेव ने कहा है। यह बात सुनकर पात्र शिष्य जिज्ञासा से प्रश्न करता है कि हे नाथ! इस कर्ता-कर्म के अज्ञान का अन्त कैसे हो? प्रभो! हमारा यह अज्ञान कैसे मिटे? इस अज्ञान के मिटाने का क्या उपाय है? स्वयं में अज्ञान के अभाव की तैयारी प्रगटी है, पात्रता हुई है और

सामने निमित्त भी उपस्थित है। अत: जिज्ञासापूर्वक शिष्य पूछता है कि प्रभो! अनादि का यह अज्ञान अब किस प्रकार मिटेगा? – यह बताओ। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा चिदानन्दस्वरूप है; विकार उसके स्वरूप में नहीं है तो भी पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे मेरा कर्तव्य और मैं उनका कर्ता – ऐसा जो अज्ञानी का अनादिकालीन पाखण्डभाव है, वह कब मिटेगा?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! आत्मा और विकार को भिन्न-भिन्न पहिचानने से विकार के कर्ता-कर्मपने का अनादि का अज्ञान मिट जाता है, अर्थात् अज्ञान के अन्त का एकमात्र उपाय भेदविज्ञान ही है। मैं शुद्धस्वभाव का अखण्ड पिण्ड हूँ; पुण्य-पाप के भाव विकार हैं, बन्धन हैं, अशुचि हैं। हिंसादिरूप पाप तो विकार है ही और आत्मा के भाव में पूजा, भक्ति, दान आदि का पुण्यपरिणाम होता है, वह भी विकार है। मेरा चैतन्यस्वभाव उस विकार से रहित है। इस प्रकार विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान होने पर ही अज्ञान का अभाव होता है।

वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में साक्षात तीर्थङ्करदेव श्री सीमन्धर भगवान केवलज्ञानसहित विराजमान हैं। सीमन्धर परमात्मा ने समवसरण में दिव्यध्वनि के द्वारा जो वस्तुस्वरूप कहा, उसकी प्रसिद्धि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस समयसार परमागम में की है। कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु, महाविदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ परमात्मा श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे और भगवान की दिव्यवाणी सुनी थी। तत्पश्चात् वापस इस भरतक्षेत्र में आकर इन समयसारादि महान् शास्त्रों की रचना की है। इन शास्त्रों में जन्म-मरण के रोग के अभाव की अपूर्व दवा है। आचार्य भगवान, भवभ्रमण से बचने की अपूर्व औषधि बतला रहे हैं।

अहो! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वयं सुखस्वभावी है। उसका सुख किन्हीं इन्द्रिय-विषयों में नहीं है; स्वर्ग में सुख नहीं है; पुण्य में सुख नहीं है। आत्मा का सुख, पर में नहीं है; न आत्मा का दु:ख ही पर में है। परलक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव हैं, वे आस्रव हैं, आकुलता है, मलिनभाव हैं, दु:खरूप हैं और आत्मा तो आकुलतारहित, पवित्र और सुखरूप है; इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का भेद जानना ही सम्यग्ज्ञान

का उपाय है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि से ऐसा भेदज्ञान करना ही अज्ञान के अभाव का उपाय है।

शरीर-मन-वाणी, वह जगत के जड़ की पर्यायें हैं। पुद्गलद्रव्य कर्ता होकर उन अवस्थाओं को करता है; आत्मा में उन्हें करने की सामर्थ्य नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव ने पुद्गल को जड़ बताया है। वह द्रव्य, जड़ है; उसके गुण, जड़ हैं और उसकी अवस्थाएँ भी जड़ हैं। उसके द्रव्य-गुण-पर्यायों से आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न हैं। आत्मा, उस जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ नहीं करता। आत्मा अज्ञानभाव से अपनी अवस्था में विकारभाव को करके उसका कर्ता होता है और ज्ञानभाव से अपनी निर्मल अवस्था को करता है। आत्मा की पर्याय में होनेवाला विकार भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उस विकार का कर्ता होनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है और जड़ का कर्तापना माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा के शुभपरिणाम के कारण एक भी जड़ की अवस्था नहीं पलटती। भगवान के सन्मुख शरीर नमता है और हाथ जोड़ने की क्रिया होती है, वह आत्मा के शुभपरिणाम के कारण नहीं होती; जड़ की अवस्था होने की सामर्थ्य जड़ में है। आत्मा तो वीतरागी स्वभाव की सामर्थ्यवाला है, उसमें तो पुण्यभाव को प्रगट करने का भी स्वभाव नहीं है; अतः पुण्यभाव से धर्म माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है।

भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया है कि जो चैतन्यतत्त्व को चूककर पुण्य-पाप का कर्ता होता है, उसे हम जैन नहीं कहते, क्योंकि उसने शुद्धस्वभाव की दृष्टि से पुण्य-पाप को नहीं जीता है अपितु विकार को अपना स्वरूप मानकर स्वयं विकार के द्वारा जीता गया है; इस कारण वह जैन नहीं है।

देखो! जैन कुल में जन्मनेमात्र से ही कोई वास्तव में जैन नहीं कहलाता है। जैसे, थैली पर शक्कर लिखा हो और अन्दर चिरायता भरा हो तो इससे चिरायते की कड़वाहट का अभाव नहीं हो जाता; इसी प्रकार नाम से जैन कहलाने पर भी अन्तर में आत्मा को पुण्य-पाप का कर्ता माननेवाले को सर्वज्ञदेव, जैन नहीं कहते। जो आत्मा, पुण्य-पापरहित ज्ञातास्वभाव में एकत्वदृष्टि से निर्मल अवस्था का कर्ता होता है, वह जैन है। आत्मा का

स्वभाव, ज्ञाता-दृष्टा एकरूप है; उसकी सन्मुखता से ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि होती है तथा ज्ञान और राग की एकताबुद्धि नष्ट होती है, वह धर्म है। ऐसा धर्मी जीव वस्तुत: राग का कर्ता नहीं होता, अपितु अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव को ही करता है।

आत्मा स्वयं अपने को भूलकर हैरान होता है; कोई दूसरा उसे हैरान नहीं करता, परन्तु पर मुझे हैरान करता है; पर मुझे विकार कराता है - ऐसा अज्ञान, आत्मा की अवस्था में अनादि से है। वह अज्ञान, प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा उसका नाश हो जाता है।

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध है परन्तु मैं पर का अथवा विकार का कर्ता हूँ - ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण वह अपने स्वभावोन्मुख नहीं होता और आकुलता में ही परिभ्रमण करता है। आत्मा के भान बिना पुण्य से धर्म मनाने, निमित्त के आश्रय से धर्म मनाने और देह की क्रिया में धर्म मनानेवाले सभी अज्ञानी जीव, आत्मा के स्वभाव की हत्या करनेवाले आत्मघाती हैं और इस विपरीत मान्यतापूर्वक वे जो कोई कार्य करते हैं, वह सब एक रहित बिन्दियों के समान / नि:सार है।

'मैं, परपदार्थ के कार्यों को करता हूँ' - ऐसा माननेवाला अपनी पर्याय में मिथ्यात्वभाव को उत्पन्न करता है परन्तु पर के कार्य का कर्ता तो वह भी नहीं हो सकता। आत्मा अपनी अवस्था में एक समय का विकार या अविकारभाव कर सकता है परन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपनी अवस्था में एक समयमात्र के विकार का कर्ता होता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

मैं अखण्ड ज्ञानमूर्ति पवित्र हूँ - ऐसे स्वभावसन्मुख भाव में रुकने से विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्तिरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है और आत्मा, सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप निर्मलभाव का कर्ता होता है, इसका नाम धर्म है; इससे अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धर्म मानते-मनाते हों अथवा धर्मी का अन्य कोई कार्य मानते-मनाते हों तो वह उनकी कल्पना है। भगवान का आगम, धर्म का ऐसा स्वरूप नहीं कहता।

मेरा वर्तमान विकार, पर के कारण होता है; कर्म का उदय मुझे विकार

कराता है – ऐसा माननेवाले ने तो वर्तमान अंश को भी स्वतन्त्र नहीं माना है, इसलिए उसे तो वर्तमान अंश को त्रिकाली अखण्ड द्रव्य के सन्मुख करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही अवसर नहीं रहा। मेरी अवस्था में विकार होता है, उसे कोई पर नहीं कराता, अपितु मैं ही अपने अपराध से करता हूँ; इस प्रकार कोई अंश को तो स्वतन्त्र मानता हो परन्तु अंश जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को मानता है तो उसे भी त्रिकाली स्वभावसन्मुख ढलने का अवकाश नहीं है; अत: वह भी मिथ्यादृष्टि है। अपने वर्तमान अंश को स्वतन्त्र मानकर, पश्चात् उस विकारी अंश के कर्ता-कर्मपने की मान्यता भी मिटाकर, अभेद स्वभावसन्मुख हुआ, उसी को भगवान ने धर्म कहा है और वही धर्मी जीव का कार्य है।

आज भगवान का केवलज्ञानकल्याणक है। केवलज्ञान के पश्चात् भगवान ने दिव्यध्वनि में क्या उपेदश दिया? यह बात यहाँ चल रही है। भगवान महावीर को वैशाख शुक्ल दशम् को केवलज्ञान हुआ, किन्तु कोई गणधर नहीं होने से छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी – ऐसा कथन आता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वस्तुत: वाणी, वाणी के कारण ही रुकी है, उस समय परमाणुओं में वैसी वाणीरूप होने का स्वकाल ही नहीं था और जब वाणी खिरी, तब वह अपने स्वकाल में खिरी है। गौतम गणधर आये, इसलिए वाणी खिरी – ऐसा नहीं है। गणधर का आना कर्ता और वाणी का खिरना कर्म – ऐसा कर्ता-कर्मपना नहीं है तथा भगवान, कर्ता और वाणी, कर्म – ऐसा भी नहीं है। योग का कम्पन, कर्ता और वाणी, कर्म – ऐसा भी नहीं है; सभी स्वतन्त्र हैं। योग का कम्पन, गौतम का आना और वाणी का खिरना – इन सबका एक काल होने पर भी प्रत्येक कार्य स्वतन्त्र है; कोई एक-दूसरे का कर्ता नहीं है।

पर्यायबुद्धि से 'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कर्म, अर्थात् मैं विकार से भिन्न नहीं हूँ, अपितु विकार ही मैं हूँ।' – ऐसी मिथ्या कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी के प्रवाहरूप अनादि से है परन्तु वह जीव का स्वभाव नहीं है; प्रतिक्षण अज्ञान से नयी उत्पन्न हुई है, नयी उत्पन्न हुई होने से मिट सकती है। जीव उत्पन्न करता है तो वह होती है; अन्यथा नहीं

होती। स्वभावसन्मुख होने पर 'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कर्म' – ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु निर्मल वीतरागी परिणाम की उत्पत्ति होती है।

कर्म का उदय तो आत्मा की अवस्था में निमित्तमात्र है, वह जीव को विकार नहीं कराता। कर्म के कारण जीव को विकार होता है – यह बात त्रिकाल में भी सत्य नहीं है। जीव स्वयं अपने अपराध से अज्ञान करता है तो भी अनादि काल से मानता है कि कर्म के कारण अज्ञान होता है। ऐसी मान्यता महा अज्ञान है।

भगवान अरिहन्त परमात्मा कहते हैं कि सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं, कोई अन्य को विकार नहीं कराता तथा कोई किसी पर प्रभाव डाले अथवा मदद-असर करे ऐसी ताकत तीन काल-तीन लोक में किसी पदार्थ में नहीं है। जैसे, पदार्थ को किसी ने किया नहीं, अपितु वह स्वयंसिद्ध है; इसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अवस्था भी स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र है; अन्य कोई उसमें कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय को स्वतन्त्र जाननेवाला, स्व स्वभावसन्मुख हुए बिना नहीं रहता।

आचार्य भगवान समयसार की पहली गाथा में कहते हैं कि 'मैं सिद्ध हूँ, तुम सिद्ध हो। **वंदित्तु सव्व सिद्धे',** अर्थात् समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। मेरे और तुम्हारे आत्मा में सिद्धपने की स्थापना करता हूँ। जो सिद्ध में है, वह तुझमे है और जो सिद्ध में नहीं है, वह तेरा स्वभाव भी नहीं है; अत: विकार मेरा कर्तव्य है – ऐसी मान्यता का परित्याग कर दे। आत्मा में परमात्मपने की स्थापना करके तू श्रवण करना; इस प्रकार आचार्यदेव ने आत्मा में परमात्मपने की स्थापना करके प्रारम्भ किया है। धर्म के प्रारम्भ का यही उपाय है।

सिद्ध भगवान को आत्मा में आदर्शरूप में / दर्पणरूप में स्थापित किया है; इसलिए जैसे सिद्ध, वैसा मैं – इस प्रकार विकार और अपूर्णदशा में एकत्वबुद्धि छोड़कर सिद्धसमान निज आत्मा की श्रद्धा करना ही अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता। अनादि के अज्ञान की निवृत्ति और सम्यग्दर्शन की

प्राप्ति का उपाय सिद्धसमान निज आत्मा की श्रद्धा करना ही है; अन्य कोई बाह्य क्रियाकाण्ड और शुभराग, उपाय नहीं है। शुभराग, कारण और धर्म, कार्य - ऐसा कारण-कार्यपना तीन काल में भी नहीं है क्योंकि शुभराग तो विकार है और धर्म तो अविकारीदशा है; अत: विकार, अविकारपने का कारण कैसे हो सकता है ? शास्त्र में कहीं शुभराग या व्यवहार को धर्म का साधन कहा गया हो तो वह उपचार का कथन है। वस्तुत: शुभराग, धर्म का साधन नहीं है।

विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अधर्म है और स्वभावसन्मुख होकर आत्मा और आस्रवों को भिन्न जानने पर उस मिथ्या कर्ता -कर्म प्रवृत्ति का अभाव होकर अज्ञान का नाश होता है, अर्थात् बन्धन का अभाव होकर मुक्ति होती है।

सभी अरिहन्त भगवन्त इसी उपाय से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आज से पूर्व अनन्त जीव, केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, अभी भी महाविदेहक्षेत्र से छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे; उन सभी जीवों के लिये यह एक ही मोक्ष का उपाय है।

सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का आशय अल्प शब्दों में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि 'ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है। 'ज्ञानमात्र' शब्द में आत्मसन्मुख हुए श्रद्धा-चारित्रादि भी आ जाते हैं। राग का अभाव बताने के लिये 'ज्ञानमात्र' - ऐसा कहा है। वहाँ ज्ञान के साथ सम्पूर्ण आत्मा अभेद समझना चाहिए। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता के अतिरिक्त तीन काल में भी अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। कहा भी है-

एक होय तीन काल में, परमारथ का पंथ।
प्रेरे जो परमार्थ को, वह व्यवहार समंत॥

अखण्डानन्दस्वभाव का भान करके उसका मनन करने की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसे व्यवहार कहते हैं परन्तु उस व्यवहार के अवलम्बन से अन्तर के परमार्थ में नहीं पहुँचा जा सकता। जहाँ तक राग का लक्ष्य रहता है, वहाँ तक अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता। व्यवहार, राग है,

उसका आश्रय छोड़कर रागरहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करनेवाला धर्मी है। मुनिदशा अथवा श्रावकदशा से पूर्व अन्तर में अविरतसम्यक्त्व, अर्थात् चौथा गुणस्थान प्रगट होने पर ऐसी दशा प्रगट होती है। उस जीव को अन्तर में ऐसी विकल्प की कर्ता-कर्मपने की प्रवृत्ति नहीं रहती कि मैं विकार का कर्ता हूँ और विकार मेरा कार्य है - ऐसी दृष्टिवन्त धर्मात्मा, स्वसन्मुख परिणमन से क्रम-क्रम से राग का अभाव करके सर्वज्ञ होता है। इसी मार्ग से सर्वज्ञ हुआ जाता है।

भगवान ने सर्वज्ञज्ञान से / केवलज्ञान से जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को स्वतन्त्र जाना है और दिव्यध्वनि में प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता का उपदेश दिया है। भगवान ने प्रत्येक वस्तु के अनन्त गुणों को भी स्वतन्त्र कहा है। एक वस्तु, दूसरी किसी वस्तु की सहायता नहीं करती, परन्तु एक वस्तु में रहनेवाले अनन्त गुणों में भी एक गुण, दूसरे गुण को उपादानरूप से कोई सहायता नहीं करता। आत्मा में जिस क्षण सम्यक्श्रद्धा प्रगट होती है, उसी क्षण पूर्ण सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाए - ऐसा नहीं होता तथा बारहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण पूर्ण, अर्थात् केवलज्ञानरूप नहीं परिणमता, क्योंकि प्रत्येक गुण भी स्वतन्त्र है।

'सम्यक्श्रद्धा होने के क्षण ही सम्पूर्ण चारित्र होना चाहिए और राग का त्याग होना चाहिए' - ऐसी मान्यतावाले को श्रद्धा आदि गुणों की स्वतन्त्रता का पता नहीं है। वस्तुरूप में सभी गुण अभेद होने पर भी प्रत्येक गुण के परिणमन में स्वतन्त्रता है।

सोलह, सत्रह और अठारहवें शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ - ये तीनों तीर्थङ्कर भगवन्त, चक्रवर्ती थे। उनको संयोगरूप में छह खण्ड का राज्य वैभव था और अस्थिरताजन्य राग भी था, फिर भी अन्तर में एक क्षण भी सम्यक्श्रद्धा हटती नहीं थी। राग होने पर भी अन्तर में ऐसी सम्यक्श्रद्धा थी कि 'यह राग मैं नहीं हूँ, यह मेरा कर्तव्य नहीं है और राग, स्त्री आदि परद्रव्यों के कारण भी नहीं है।' - ऐसी सम्यक्श्रद्धा होने पर भी अभी चारित्रदशा प्रगट नहीं हुई थी क्योंकि श्रद्धा और चारित्र - इन दोनों गुणों का परिणमन स्वतन्त्र है; इसलिए श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि समस्त गुण एक साथ प्रगट नहीं होते।

सम्यक्श्रद्धा प्रगट होने पर तुरन्त ही चारित्र के विकार का नाश हो जाए - ऐसा नहीं होता। श्रद्धा में तो विकाररहित परिपूर्ण चारित्र का ही स्वीकार हुआ है तो भी चारित्रगुण अत्यन्त निर्विकाररूप तुरन्त ही नहीं परिणमता। श्रद्धा में तो सम्पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव आया है परन्तु अभी ज्ञान पूर्ण प्रगट नहीं हुआ है। इस प्रकार वस्तु स्वतन्त्र है और वस्तु के गुण भी स्वतन्त्र हैं।

यह तो आत्मा के अन्तर के गुणों की बात है। अभी तो लोग बाहर की स्थूल बातों में अटक गये हैं। कर्म के कारण से आत्मा को विकार होता है और विकार से आत्मा को लाभ होता है - ऐसी मान्यता तो स्थूल मिथ्यात्व है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद भी प्रमाद के कारण राग होता है, वह राग कोई कर्मोदय के कारण नहीं होता; जड़ कर्म तो निमित्तमात्र हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव, अन्तरस्वभाव की दृष्टि में उस राग का भी कर्ता नहीं होता। सम्यग्दृष्टि का ऐसा अन्तरङ्ग परिणमन बताने के लिए कभी शास्त्रों में ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है, वह कर्म की बलजोरी से होता है। 'कर्मोदय, आत्मा को विकार कराता है' - ऐसी स्थूल मिथ्यादृष्टि मिट जाने के बाद, स्वभाव की अन्तरदृष्टि का यह कथन है। ज्ञानी तो अखण्डानन्द -स्वभाव की दृष्टि से पद-पद पर स्वभाव की शुद्धि को प्रगट करता है और अज्ञानी 'मैं विकार का कर्ता हूँ अथवा पर मुझे विकार कराता है' - ऐसी बुद्धि से पद-पद पर आत्मा की शुद्धता का नाश करता है और विकार को उत्पन्न करता है।

जैसे, त्रिकाली द्रव्य और उसके गुण स्वतन्त्र हैं; उसी प्रकार उसकी अनादि-अनन्त काल की प्रत्येक अवस्था भी स्वतन्त्र है। विकार कोई पर नहीं कराता, अपितु मेरी अवस्था की स्वतन्त्रता से होता है - इतनी स्वतन्त्रता की स्वीकृति के बाद मेरे त्रिकाली स्वभाव में वह एक समय का विकार नहीं है और विकार में मेरा स्वभाव नहीं है - ऐसी प्रतीति करने पर धर्म का प्रारम्भ होता है और उसी प्रतीति के बल से विकार का अभाव होता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की, प्रत्येक गुण की और प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता भगवान ने दिव्यध्वनि में प्रसिद्ध की है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी स्वतन्त्रता जानकर अपने स्वभाव सन्मुख होने को भगवान, मोक्ष का उपाय कहते हैं। ●●

देह-मन-वाणी से रहित आत्मा

(प्रवचनसार, गाथा-160 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

आत्मा स्वयं देह-मन-वाणी नहीं है तथा देह-मन-वाणी की क्रिया का कर्ता भी आत्मा नहीं है। कोई कहे कि 'निश्चय से तो ऐसा है कि आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता, परन्तु व्यवहार से तो आत्मा पर का कर्ता है न ?' तो यह बात भी मिथ्या है। आत्मा निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार से पर का कर्ता तो है ही नहीं। 'निश्चय से नहीं करता और व्यवहार से कर्ता है' - ऐसा दो प्रकार का कथन है परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा दो प्रकार का नहीं है। निश्चय की बात को लक्ष्य में रखकर व्यवहार का अर्थ समझना चाहिए। आत्मा, शरीरादि की कोई क्रिया नहीं कर सकता - ऐसा ही वस्तु स्वरूप है - यही निश्चय है और 'आत्मा शरीरादि का कर्ता है' - ऐसा कथन व्यवहारनय से शास्त्र में होता है, वह मात्र निमित्त का कथन है, वस्तुस्वरूप नहीं। शरीरादि की क्रिया होने के काल में कैसा निमित्त था, उसका ज्ञान कराने के लिए यह व्यवहार का कथन है।

भगवान के गंधोदक का पानी लेकर मस्तक पर चढ़ावे और कहे कि हे भगवान! आप संसार से तिरे हो और मुझे भी तारो, तो क्या भगवान किसी को तारते होंगे ? अथवा गंधोदक का पानी किसी को तारता होगा ? यह तो मात्र भगवान के प्रति विनय की भाषा है। आत्मा के अन्तर का पानी (पुरुषार्थ) उछले बिना मुक्ति नहीं हो सकती; बाहर की क्रिया से आत्मा के अन्तर पुरुषार्थ की पहिचान नहीं हो सकती। जैसे, जवेरी ही हीरे के पानी का माप कर सकता है परन्तु अनपढ़ किसान उसे नहीं पहिचान सकता; उसी प्रकार धर्मी जीव के अन्तर के पुरुषार्थ की पहिचान आहारादि की बाह्य क्रिया से नहीं हो सकती। अमुक प्रकार का आहार करे और अमुक प्रकार का त्याग ले - ऐसी बाहर की क्रिया से धर्मी जीव के धर्म का माप नहीं हो सकता, किन्तु अन्तर में आत्मस्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता करके कितना राग छूटा, इससे धर्मी का माप होता है।

अज्ञानी कहता है कि 'तुम मानते हो कि आत्मा में अनन्त शक्ति है और आत्मा स्वतन्त्र है तो छह महीने के उपवास कर दो न ?' परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! आत्मा की शक्ति का माप बाहर की क्रिया से नहीं है।

कौन आहार ले और कौन आहार छोड़े ? चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा है, वह जड़ आहार के ग्रहण-त्याग की क्रिया नहीं कर सकता।

धर्म, अर्थात् क्या और धर्मी किसे कहना ? लोग कहते हैं कि हमें धर्म करना है, तो धर्म कहाँ से होगा ? यह बात चलती है। धर्म, शरीर में से नहीं होता, वाणी में से नहीं होता तथा धनादिक से भी धर्म नहीं होता क्योंकि ये सब तो आत्मा से भिन्न अचेतन हैं; इनमें आत्मा का धर्म विद्यमान नहीं है तथा हिंसा, चोरी आदि पापभाव अथवा दया, पूजादि पुण्यभाव से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि ये विकारीभाव हैं। धर्म करनेवाला आत्मा है और धर्म, आत्मा की दशा में ही होता है। वह धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है।

आत्मा की शुद्धदशा ही धर्म है। उस धर्म को करनेवाला आत्मा स्वयं ही है। धर्म करनेवाले आत्मा से ही धर्म होता है किन्तु पैसे से, शरीर से, प्रतिमा से, अथवा देव-शास्त्र-गुरु से धर्म नहीं होता तथा उस तरफ के शुभराग से भी धर्म नहीं होता। धर्म, आत्मा की निर्मल वीतरागी शुद्धपर्याय है। वह पर्याय, पर्यायी आत्मा में से प्रगट होती है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानादि निर्मल गुणों की खान है। श्रवण-मनन द्वारा उसकी पहिचान करने पर आत्मा में से जो निर्मल अंश प्रगट होता है, वह अंशी का अंश, धर्म है। भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति अनादि-अनन्त एकरूप है, वह अंशी है और उसके आश्रय से जो निर्मल अंश प्रगट होता है, वह अंश है। उस एक अंश में सम्पूर्ण आत्मा आ नहीं जाता।

यह जगत अपने आत्मा का स्वरूप समझे बिना बाहर की क्रिया में हो-हल्ला करता है, उसमें धर्म नहीं है। बाह्य जड़ की क्रिया से तो आत्मा को पुण्य-पाप भी नहीं होता है। यदि राग और लोभादि कषाय को मन्द करे तो पुण्य होता है और तीव्र कषाय होवे तो पाप होता है। बाहर की क्रिया तो आत्मा करता ही नहीं; वह तो जड़ के कारण स्वयं-स्वत: होती है। आत्मा से जड़ की क्रिया तो भिन्न है ही, राग-द्वेष की विकारी क्रिया भी भिन्न है। त्रिकाली शुद्धात्मा इन दोनों से भिन्न है। उस आत्मा की पहिचान से प्रगट होनेवाला रागरहित शुद्ध अंश, धर्म है। धर्म की यह क्रिया, आत्मा के आश्रय से ही होती है।

आत्मा की महिमा के परिज्ञान बिना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की महिमा करने से भी मुक्ति नहीं होती। आत्मा की महिमा को विस्मृत करके, पर की महिमा में अटकनेवाले को धर्म नहीं होता।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव छठवें-सातवें गुणस्थान की आत्मा की चारित्रदशा में झूल रहे हैं। वे क्षण में विकल्प तोड़कर आत्मा के अनुभव में स्थिर हो जाते हैं और सिद्ध भगवान सदृश अतीन्द्रिय आनन्द को भोगते हैं। दूसरे क्षण पुन: छठवें गुणस्थान में आने पर शुभविकल्प उत्पन्न होता है। उनको ऐसी दशा में 'जगत के जीव धर्म प्राप्त करें' - ऐसा शुभविकल्प उत्पन्न हुआ, और जगत के भाग्य से इन समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थों की रचना हो गयी। उन ग्रन्थों में वर्णित आत्मा का क्या स्वरूप है ? - यह बात यहाँ चलती है।

आत्मा ज्ञायकमूर्ति है। जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वह अशुद्धता है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा की अवस्था में उत्पन्न शुभाशुभ वृत्तियाँ, परद्रव्य के अनुसरण से प्रगट होती हैं; आत्मस्वभाव का अनुसरण करने पर अशुद्धता नहीं होती। अशुद्धता का कारण परद्रव्यानुसार होती परिणति ही है और शुद्धता का कारण स्वद्रव्यानुसार होती परिणति ही है। दया, दान, पूजा, भक्ति, त्याग इत्यादि जितने व्यवहारधर्म-क्रिया के परिणाम हैं, वे समस्त ही परद्रव्यानुसारी अशुद्धभाव हैं, उनके द्वारा धर्म नहीं होता। इसलिए अन्तरदृष्टि द्वारा आत्मस्वरूप के निरीक्षण (अनुभव) को भगवान, सम्यग्दर्शनरूपी धर्म कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन, वीतरागचारित्र का मूलकारण है और वीतरागचारित्र, मोक्ष का कारण है।

परद्रव्य के लक्ष्य से अशुद्धोपयोग होता है और उस अशुद्ध उपयोग के फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है; उसके द्वारा स्वभाव की एकता नहीं होती। शुद्धोपयोग में परद्रव्य का लक्ष्य नहीं होता और उस शुद्धोपयोग से परद्रव्य का संयोग भी नहीं होता, क्योंकि वह तो आत्मा का स्वभाव है। जिसमें से अनन्त सिद्ध पर्यायें प्रगट हों - ऐसा चैतन्य भण्डार मैं हूँ। मेरी चैतन्यखान में से शुभ-अशुभभाव प्रगट नहीं होते - ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव, परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर शुद्धोपयोग का अभ्यास करता है।

वह धर्मी जीव, अविनाशी मोक्षसुख के कारणरूप शुद्धोपयोग की

भावना करता है। यहाँ शुद्धोपयोग की भावना रागरूप नहीं, किन्तु समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर आत्मस्वभाव का आश्रय करना ही शुद्धोपयोग की भावना है। धर्मी जीव, परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर स्वभाव का आश्रय किस प्रकार करता है ? – यह बात प्रवचनसार की 160 वीं गाथा में कहते हैं कि –

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥

अर्थात्, मैं देह नहीं, मन नहीं तथा वाणी नहीं; उनका कारण नहीं, कर्ता नहीं, कारयिता (करानेवाला) नहीं, कर्ता का अनुमोदक नहीं।

जैसे, अङ्क और अक्षर को जाने बिना नामा (हिसाब) नहीं लिखा जा सकता; उसी प्रकार आत्मा के अङ्क और अक्षर, अर्थात् आत्मा का चैतन्य चिह्न और आत्मा के अविनाशी स्वभाव को जाने बिना धर्म का नामा नहीं हो सकता। भाई! यह तो जन्म-मरण की बेड़ी तोड़ने की बात है। इसे समझे बिना जन्म-मरण का अन्त किसी भी प्रकार नहीं आ सकता। इसे समझे बिना भगवान की मणि-रत्नों की प्रतिमा बनावे और हीरों के थाल में कल्पवृक्षों के फल से पूजा करे, तो भी वह शुभराग है। आत्मा का स्वभाव, रागरहित है। उसे समझे बिना संसार के जन्म-मरण का अभाव नहीं होता। शुभराग, धर्म का पन्थ नहीं है; आत्मा की पहिचान करके उसका आश्रय करना ही एकमात्र धर्म का पन्थ है। अनन्त ज्ञानियों का यह एक ही पन्थ है। कहा भी है कि –

'एक होय तीन काल में, परमारथ का पंथ'

अर्थात्, मोक्ष का मार्ग तीनों काल एक ही प्रकार का है।

धर्मी जीव का चिह्न क्या है ? धर्मी जीव के अन्तर में कैसा भान होता है ? – उसकी यह बात है। धर्मी जानता है कि मैं ज्ञाता आत्मा हूँ और शरीरादि समस्त परद्रव्य, ज्ञेय हैं। मेरे ज्ञानस्वरूप से शरीरादि ज्ञेय पदार्थ भिन्न हैं, अर्थात् मैं शरीर नहीं, मन नहीं, तथा वाणी भी मैं नहीं हूँ; इस कारण उन शरीर-मन-वाणी से मेरा धर्म नहीं होता है।

अब, किस से धर्म करना ? आत्मा, शरीर-मन-वाणी से पार, ज्ञान-

दर्शन का पिण्ड है, उसी से धर्म की स्फुरणा होती है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है और शरीर-मन-वाणी, परज्ञेय हैं; आत्मा उनका जाननेवाला है परन्तु आत्मा उनका कुछ भी नहीं कर सकता। शरीर से-मन से अथवा वाणी से आत्मा का धर्म नहीं होता। यह शरीर और भाषा तो परवस्तु है और अन्तर हृदय स्थान में एक सूक्ष्म मन है, वह जड़ पुद्गलों से रचित है, वह मन भी परवस्तु है। आत्मा का जितना उस मन की तरफ जुड़ान होता हैं, उतना विकार होता है, वह विकार भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। मन, परद्रव्य है। उस मन के अवलम्बन से भी आत्मा का धर्म नहीं होता। आत्मा का दर्शन-ज्ञानस्वभाव मनातीत और विकल्पातीत है, उसे पहिचानकर उसमें एकाग्र होने पर जितने अंश मन से पृथक् हो, उतने अंश धर्म है; इस भाव के बिना तीन काल में भी धर्म नहीं होता। आज समझो, कल समझो अथवा दो-पाँच भव बाद समझो, परन्तु यह समझे बिना कभी भी भव का किनारा आनेवाला नहीं है।

पर से भिन्नपना जाने बिना पर के प्रति न तो मध्यस्थता होती है और न स्वरूप में एकाग्रता होती है। धर्मी जीव, आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर उनके प्रति मध्यस्थ होता है और अपने स्वभाव में स्थिर होता है। धर्मी जीव जानता है कि मैं न तो वाणी हूँ और न वाणी से मेरा धर्म होता है। आत्मा, वाणी का कर्ता नहीं है और वाणी से आत्मा समझ में भी नहीं आता है।

मैं, शरीर-मन-वाणी नहीं हूँ - इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर-मन-वाणी की क्रिया आत्मा के द्वारा नहीं होती। व्यवहार से भी आत्मा उनका कुछ करे - ऐसा नहीं है। भाषा में ऐसा आता है कि 'आत्मा ने शरीरादिक का किया' परन्तु वस्तुस्वरूप इससे भिन्न है। आत्मा से दूर स्थित देव-शास्त्र-गुरु और समीपवर्ती शरीर-मन-वाणी — ये सब मुझसे पृथक् हैं। मैं जाननेवाला हूँ और ये सब मेरे ज्ञेय हैं। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय को भिन्न-भिन्न पहिचानकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना ही धर्म है।

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कारण नहीं है; शरीर-मन-वाणी तो जड़ पुद्गल की रचना है। धर्मी जीव

अपने को उनका कारण नहीं मानता तथा जिस भाव से शरीर-मन-वाणी का संयोग होता है, उस भाव का कारण भी धर्मी जीव अपने को नहीं मानता। स्वभावदृष्टि से आत्मा, विकार का कारण है ही नहीं और निमित्तरूप से भी आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कारण नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि बाहर का व्यवहार तो करना पड़ता है न? परन्तु भाई! आत्मा पर में क्या करे? क्या तुझे जड़ की क्रिया में आत्मा का व्यवहार मनवाना है? निश्चय आत्मा में और व्यवहार बाहर में - ऐसा नहीं है। आत्मा का व्यवहार, आत्मा से बाहर नहीं होता, अर्थात् बाहर की - शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा व्यवहार से भी नहीं करता। ज्यादा से ज्यादा आत्मा, पर्याय में उस तरफ का राग करता है, उसे जानना व्यवहार है। त्रिकालीस्वभाव में राग नहीं है और पर्याय में यह क्षणिक राग होता है; इस प्रकार उस राग को जानना असद्भूत व्यवहार है और त्रिकाली रागरहित स्वभाव को जानना निश्चय है। निश्चय को जाने बिना व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। त्रिकालीस्वभाव, रागरहित है। जो उसे नहीं जानता और क्षणिक राग को ही अपना स्वरूप मान लेता है, उसे तो व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं है।

आत्मा में से भाषा उत्पन्न नहीं होती तथा आत्मा कारणरूप होकर भी भाषा को उत्पन्न नहीं करता। आत्मा की इच्छा के कारण भाषा नहीं होती, परन्तु जड़ पुद्गल (भाषावर्गणा) स्वयं भाषारूप परिणमते हैं। केवली भगवान के इच्छा नहीं होने पर भी वाणी होती है और बहुत से जीवों के इच्छा होने पर भी इच्छानुसार वाणी नहीं निकलती, क्योंकि आत्मा के कारण वाणी नहीं होती; बल्कि जड़ के कारण होती है। इस प्रकार मैं जड़ से भिन्न हूँ - ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

धर्मी जीव, भेदज्ञान के द्वारा ऐसा जानता है कि मैं देह-मन - वाणी नहीं हूँ, उनका कारण मैं नहीं हूँ, उनका कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और उनकी क्रिया स्वयं होती हो, उसका मैं अनुमोदक भी नहीं हूँ।

शास्त्र के ऐसे स्पष्ट कथन आते हैं, वहाँ अज्ञानी जीव कहता है कि 'यह तो निश्चय की बात है, निश्चय से आत्मा; शरीरादिक का नहीं कर सकता परन्तु व्यवहार से तो कर सकता है।' निश्चय क्या है और व्यवहार

क्या है ? – इसका अज्ञानी को पता नहीं है; इस कारण वह ऐसा मानता है कि आत्मा व्यवहार से बोलता है और शरीर को चलाता है। 'निश्चय से नहीं करता और व्यवहार से करता है' – ऐसा अज्ञानी मानता है; अत: उसके अभिप्राय में कभी भी दोनों नयों के विरोध का परिहार नहीं होता और उसे दोनों नयों के परिहारपूर्वक स्वभाव में स्थिरता का अवसर नहीं आता, अर्थात् उसके अधर्म का अभाव होकर धर्म प्रगट नहीं होता।

निश्चय और व्यवहार के परस्पर विरोध है। वह विरोध कैसे मिटे? निश्चय जो कहता है, वह वस्तुस्वरूप है और व्यवहार कथन के अनुसार वस्तुस्वरूप नहीं है, किन्तु वह उपचार कथन है – ऐसा समझने से दोनों नयों के विरोध का परिहार होता है; परन्तु नयों के कथन की अपेक्षा समझे बिना दोनों को सत्य मान लें कि यह भी सत्य है और यह भी सत्य है, तो उसके दोनों नयों का विरोध कभी नहीं मिटता, अर्थात् उसके मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता।

निश्चय कहता है कि आत्मा, शरीरादिक का कुछ करता ही नहीं है – यह तो यथार्थ वस्तुस्वरूप ही है; और व्यवहार कहता है कि आत्मा, शरीरादि की क्रिया करता है – यह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं, किन्तु उपचार कथन है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुत: आत्मा, शरीरादिक का कुछ नहीं करता।

देखो! यह तत्त्व समझे बिना बाहर की धूमधाम से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। लोगों को बाह्य प्रदर्शन दिखता है परन्तु अन्तर में चैतन्य हीरा अनन्त गुणों का भण्डार केवलज्ञान का कंद आत्मा है, उसे वे नहीं देखते। भगवान! तेरी महिमा अपार है। तू अपनी महिमा को भूलकर अनादि से बाहर के पदार्थों की महिमा करके परिभ्रमण कर रहा है। अब तू अपनी आत्मा की महिमा को पहिचानकर, उसकी श्रद्धा कर तो इस जन्म-मरणरूप परिभ्रमण का अभाव होगा। अरे! भगवान की वाणी से भी तेरी महिमा का पार नहीं पड़ता। श्रीमद् राजचन्दजी कहते हैं कि –

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब
उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब॥अपूर्व॥

अपने अन्तर में ज्ञान द्वारा अनुभवगोचर हो – ऐसा आत्मा है परन्तु वह अनुभव, वाणी से नहीं कहा जा सकता और न वाणी द्वारा आत्मा समझा जा सकता है। शास्त्र कहते हैं कि बारह अङ्ग द्वारा भी मात्र स्थूल तत्त्व की बातें आयी है; सूक्ष्म तत्त्व तो केवली भगवान और ज्ञानियों के अन्तर में रह गया है। भगवान की वाणी में से गणधरदेव ने जितना झेला, उसका अनन्तवाँ भाग शास्त्र में रचित है और उसमें भी स्थूल कथन हैं। जैसे, ताजा घी का स्वाद चखने में आता है परन्तु वाणी के द्वारा उसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता। इसी प्रकार चैतन्य का परिपूर्ण स्वरूप, ज्ञान में ज्ञात होता है परन्तु वाणी में उसका सम्पूर्ण वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वाणी, आत्मा के स्वभाव से अन्य है।

जैसे, कोई महान बेरिस्टर घी चखे और दो वर्ष का बालक भी घी चखे, वहाँ उन दोनों को घी के स्वाद का ज्ञान तो एक समान है परन्तु उनमें से कोई भी वाणी के द्वारा सम्पूर्ण स्वाद को कहने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द आत्मस्वभाव का ज्ञान करने में केवली भगवान पूरे हैं, अर्थात् बेरिस्टर के समान हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि के मति-श्रुतज्ञान है, वे बालक जैसे हैं परन्तु दोनों के ज्ञान की जाति एक है, दोनों को आत्मा के अनुभव का स्वाद एक जाति का है परन्तु दोनों में कोई भी वाणी के द्वारा आत्मा का वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

ज्ञायकमूर्ति आत्मा, देह-मन-वाणी का कर्ता तो नहीं है परन्तु देह-मन-वाणी की जो क्रिया स्वयं-स्वत: होती हो, उसका प्रेरक भी आत्मा नहीं है। आत्मा बोलने की इच्छा करे, वह इच्छा विकार है, उस इच्छा के कारण भी भाषा नहीं होती। शरीर, पुद्गल की आहारवर्गणा में से होता है और भाषा तो भाषावर्गणा में से होती है; इसलिए शरीर के इस मुँह अथवा गले से भी भाषा नहीं होती, क्योंकि भाषा और शरीर दोनों के पुद्गल पृथक्-पृथक् हैं। जब मुँह भी भाषा नहीं बोलता, तो आत्मा भाषा बोले – यह बात ही कहाँ रही ?

देह-मन-वाणी, आत्मा के साथ एक क्षेत्र में स्थित हैं। उन एकक्षेत्रावगाही पुद्गलों का प्रेरक भी आत्मा नहीं है तो फिर पुस्तक, पैसा,

लक्ष्मी इत्यादि दूरक्षेत्रवर्ती पदार्थों की क्रिया का कर्ता तो आत्मा हो ही कैसे सकता है ? आत्मा तो ज्ञायकमूर्ति है और ये सब पदार्थ ज्ञेय हैं। आत्मा और इनके मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। यह समझे बिना धर्म का अन्य कोई मार्ग नहीं है। वीतराग का मार्ग यही है। पहले सत्समागम से ऐसा वस्तुस्वरूप सुनकर, अन्तर में विचार और मनन करना ही व्यवहार है; इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया में व्यवहार नहीं है।

शरीर की क्रिया होती है, वह तो जड़-परमाणुओं की अवस्था है, आत्मा उसकी व्यवस्था नहीं करता। जड़ की अवस्था ही उसकी व्यवस्था है; इसके लिये उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी जीव, परपदार्थों की व्यवस्था करने का अभिमान करता है परन्तु वह भी परद्रव्यों का कर्ता या प्रेरक नहीं है। अपने को पर का प्रेरक माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

अज्ञानी कहता है कि यह एकान्त निश्चय है परन्तु उस अज्ञानी को निश्चय और व्यवहार का भान ही कहाँ है ? उसे एकान्त और अनेकान्त के स्वरूप का भी पता नहीं है। आत्मा अपने ज्ञान की अवस्था को करता है परन्तु पर में कुछ भी नहीं करता, इसका ही नाम अनेकान्त है और इस प्रकार समझने पर परपदार्थों का अहङ्कार मिटकर अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होना, धर्म है।

धर्म अद्‌भुत अलौकिक और अनन्त काल में नहीं प्रगट ऐसी अपूर्व वस्तु है। वह धर्म कैसे हो और आत्मा के जन्म-मरण का अन्त कैसे आये ? - इसकी यह बात है। यह ज्ञेय-अधिकार है, इसमें सम्यक्त्व का अधिकार भी गर्भितरूप से आ जाता है। धर्मी जीव, शरीरादि समस्त परज्ञेयों को अपने से भिन्न परद्रव्य समझकर उनके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ होकर स्वसन्मुख होता है, उसका यह वर्णन है।

मैं ज्ञायक आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कर्ता नहीं हूँ, उनका करानेवाला नहीं हूँ, और उनके कर्ता का अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ; मैं तो उनका ज्ञाता ही हूँ और वे सब ज्ञेय हैं; इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक का भेदविज्ञान करके ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना अपूर्व सम्यग्दर्शन और मुक्ति का कारण है। यह अधिकार सम्यग्दर्शन को समझने के लिये अमूल्य और अलौकिक है। ●

अकालमरण भी स्वकाल में

ज्ञान का स्वरूप : प्रश्नोत्तर

प्रश्न : श्री समयसार, गाथा 143 में केवलज्ञान का स्वरूप, विश्व का साक्षीपना, निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल, केवलज्ञान के द्वारा केवली भगवान सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुए हैं; उसमें एक-एक शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : 'यदि भविष्य की विकारी पर्याय (प्रगट होने के पूर्व) अनिश्चित है, इसलिए ज्ञान में अनिश्चितरूप से ज्ञात होती है और बाद में वर्तमान में परिपूर्णरूप से निश्चित जानने में आती है।' - ऐसा मानने से ज्ञान का निरन्तर प्रकाशमानपना न रहा और अन्तरसहित प्रकाशमानपना रहा और विश्व का साक्षीपना भी न रहा।

'सहज' का अर्थ ऐसा होता है कि केवलज्ञान का ऐसा स्वभाव ही है। पण्डित हेमराजजी ने श्री प्रवचनसार, गाथा 37 में कहा है कि 'ज्ञान के स्वभाव में तर्क नहीं चल सकता है।' इसलिए अकालमृत्यु शब्द से तर्क लगाना कि 'भगवान के ज्ञान में उसका काल निश्चित नहीं है और जब प्रगट होगा, तब जानने में आएगा' - ऐसे तर्क को स्वभाव में स्थान ही नहीं है।

उसी प्रकार मोक्ष जानेवाले जीव के कर्म की निर्जरा कब होगी और वह कब पूर्ण होगी ? इस विषय में अनियम है - ऐसा मानकर भगवान के केवलज्ञान में अनिश्चितपने का तर्क लगाना अयोग्य है।

श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड, पृष्ठ 439 में भी कहा है कि केवलज्ञानी का और श्रुतकेवली का ज्ञान एक जैसा ही है और इन दोनों का ऐसा स्वभाव क्यों है - ऐसा तर्क उठाना, न्याय से विरुद्ध है।

'विमल' का अर्थ मल न रहे। भविष्य की विकारी पर्याय या अशुद्ध पर्याय किस प्रकार होगी ? वह जब तक पर्याय प्रगट न हो, तब तक अनिश्चित रहती है - ऐसा मानना 'विमल स्वभाव' से विरुद्ध है।

'सकल' का अर्थ - परिपूर्ण अर्थात् कोई भी बात अज्ञात न रहे। अज्ञानी की पर्याय और विकारी पुद्गल की पर्याय का समय-समय में व्यय होता है और उसी समय में नई-नई पर्याय उत्पन्न होती है। इसी प्रकार हर समय में किस पर्याय का व्यय होकर कौनसी पर्याय का उत्पन्न होगी, इसका ज्ञान न हो - ऐसा बन सकता ही नहीं है। इसलिए समय समय का परिणमन ज्ञेय है, वह भगवान के ज्ञान में प्रतिभासित होता ही है, यदि न हो - ऐसा मानने में आए तो वे सकलज्ञानी कैसे हो सकते हैं और फिर समय-समय की पर्याय ज्ञेय किस प्रकार हो सकेगी ? इसलिए भविष्य की विकारी-पर्याय जब तक प्रगट नहीं होती है, तब तक वह अनिश्चित है - ऐसा मानना, ज्ञान और ज्ञेय के स्वरूप से विरुद्ध है।

'केवलज्ञान में कुछ और जानना अवशेष (बाकी) नहीं है।' (देखिए, श्री प्रवचनसार, गाथा 51, पृष्ठ 67, पण्डित हेमराजजी भाषा टीका; पञ्चास्तिकाय, गाथा 24, पृष्ठ 64, पण्डित हेमराजजी भाषा टीका; सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पृष्ठ 88; पञ्चास्तिकाय, गाथा 43, श्री जयसेनाचार्य टीका, पीछे के नई गाथा 5, पृष्ठ 81 में कहा है कि भगवान को कुछ ज्ञान हो और कुछ न हो - ऐसा है ही नहीं। यदि कोई भी बात अनिश्चित हो तो उसका अज्ञान रहा, परन्तु ऐसा हो सकता नहीं है।

केवली भगवान के ज्ञान को विज्ञानघन कहा है, वह भी सिद्ध करते हैं कि कोई भी पर्याय एक समय भी अनिश्चित होवे तो उसका विज्ञानघनपना नहीं रहेगा।

यहाँ भी ज्ञान और ज्ञेय, ज्ञेय और ज्ञान का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध किया है।

प्रश्न : श्री समयसार, गाथा 23 से 25 तक की टीका में लिखा है कि जिसने समस्त सन्देह, विपर्यय और अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति हैं - ऐसे सर्वज्ञ का ज्ञान है, उसमें अनध्यवसाय का क्या अर्थ है ?

उत्तर : यदि भविष्य की विकारी पर्याय, जब तक वह प्रगट न होवे, तब तक वह अनिश्चित हो तो भगवान के ज्ञान में अनिर्णय रहा अर्थात् 'अनध्यवसाय नाम का दोष हुआ' – ऐसा सर्वज्ञ के ज्ञान में होता ही नहीं है। जिस समय सर्वज्ञपना पर्याय में प्रगट हुआ, उसी समय से भविष्य की पर्याय किस प्रकार होनेवाली है, कब होनेवाली है, निमित्त-उपादान क्या, निमित्त-नैमित्तिक क्या, अविभाग-प्रतिच्छेद कितना है – इन सबका स्वरूप न जाने तो वह सर्वज्ञ कैसा ?

देखिए ! इस गाथा की टीका बड़ी उपयोगी है। श्री अमृतचन्द्राचार्य, सर्वज्ञ के ज्ञान का आश्रय लेकर केवलज्ञान में वस्तु का स्वरूप कैसा आया है, वह अज्ञानी को बताते हैं और कहते हैं कि तुम ऐसा नहीं मानने से स्वयं स्वत: अपने दोष से अज्ञानी हो रहे हो। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि सर्वज्ञ, जैनधर्म का मूल है और उनके ज्ञान में ज्ञेय का स्वरूप किस प्रकार आया है, वह सर्वज्ञ के ज्ञान अनुसार कहना चाहिए। जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति हैं – ऐसे सर्वज्ञज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया नित्य उपयोग-स्वभावरूप जीवद्रव्य, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो गया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ?'

यह टीका, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार की है और वहीं, गाथा 24 में सर्वज्ञ के ज्ञान का आश्रय लिया है। जैनधर्म का स्वरूप ही ऐसा है कि सर्वज्ञ के आश्रय से ही सब ज्ञेयों का स्वरूप निश्चित करना चाहिए।

ज्ञेय का स्वरूप : मिथ्या तर्क और उनका समाधान

प्रश्न : श्री प्रवचनसार, गाथा 41 में अनावरण, अतीन्द्रिय, सर्वज्ञज्ञान का स्वरूप कहा है; उसमें लिखा है कि अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से हेय ही है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : वे पर्यायें, तात्कालिकरूप से ज्ञान में ज्ञेय होती हैं, जब वे पर्यायें प्रगट होवें, तब ज्ञान में आवें, उसके पहिले अनिश्चितरूप से रहें

और ज्ञान में न आवें तो वह ज्ञेयता का अतिक्रमण हुआ अर्थात् ज्ञेयपना नहीं रहा। निरावरण ज्ञान, ज्ञेय मात्र को (द्रव्य-पर्यायमात्र को) जानता है। 'मात्र' शब्द से स्पष्ट हुआ कि पर्याय विकारी हो या अविकारी हो, किन्तु पर्यायपने को उल्लंघन नहीं करती है, इसलिए 'पर्यायमात्र में ही उसका समावेश हो गया।'

प्रश्न : ज्ञान-ज्ञेय का और ज्ञेय-ज्ञान का परस्पर निमित्तपना होने से आत्मा को 'निर्मूढ़' कहने में आता है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : सादि-अनन्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को एक समय में जानने में समर्थ सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा निर्मूढ़ है।

(देखिए, प्रवचनसार, गाथा 43, पृष्ठ 92)

इसमें तीन काल और तीन लोक को एक समय में जानने की सामर्थ्यता है, वह कब हो सकती है ? - ऐसा विचार करने पर कोई भी भविष्य की पर्याय स्वाभाविक हो कि वैभाविक हो वह केवलज्ञान हुवे तब से शुरु करके केवलज्ञान में न आवे तो उसको ज्ञान कौन कहेगा ? पराकाष्ठा को पहुँचनेवाले ज्ञान का स्वरूप अद्भुत है। विकारी पर्याय जब तक प्रगट न हो, तब तक वह अनिश्चित है - ऐसा माननेवाला सर्वज्ञ के स्वरूप को यथार्थपने नहीं जानता है। यहाँ 'समस्त' शब्द बड़ा उपयोगी है, वह पर्यायों पर भी लागू पड़ता है क्योंकि विकारी पर्याय पर्यायपने का उल्लंघन नहीं करती, इसलिए समस्त पर्यायों में विकारी पर्याय भी आ जाती है।

ज्ञेय के लिये निमित्त है ऐसा नहीं माननेवाले का अभिप्राय श्री कुन्दकुन्दाचार्य के अभिप्राय से विरुद्ध है। *(देखिए, श्री समयसार की गाथा 356 से 365, पृष्ठ 496-499 की टीका तथा श्री प्रवचनसार की गाथा 26, 36, 43, 200 इत्यादि तथा देखिए, इस लेख का पृष्ठ 110, 111)*

प्रश्न : भविष्य की विकारी पर्यायों को अनिश्चित कल्पना कहनेवालों की तरफ से क्या तर्क दिये जाते हैं ?

उत्तर : कब, कैसा निमित्त, किसको, कहाँ मिलेगा? उसकी कैसी प्रतिक्रिया होगी? यह बात अनिश्चित है - ऐसा तर्क है। अब देखिए, कैसा निमित्त, किसको, कहाँ मिलेगा? - यह बात केवलज्ञान में न आए तो किस ज्ञान में आए? सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पृष्ठ 166-167 में 'ऋद्धि प्राप्त आर्य' का वर्णन, उसमें 'अष्टांग महानिमित्त ज्ञान' का स्वरूप बताया है। ऐसे जीव को भी अतीत और अनागत, बहुत प्रकार की अशुद्ध पर्यायों का ज्ञान होता है तो केवली को उसका पूर्ण ज्ञान न होवे - ऐसा कैसे बन सकता है? केवलज्ञान के स्वभाव में किसी तर्क को अवकाश ही नहीं है। इसलिए तर्क उठाकर जो ऐसा कहा है कि केवलज्ञान में कुछ 'अनिश्चित' भी रहता है; इस प्रकार कहना न्याय से विरुद्ध है। समय-समय की पर्याय का उत्पाद-व्यय, कारण-कार्य, उपादान-निमित्त क्या है? - वह सब श्री प्रवचनसार, गाथा 37-39 के अनुसार केवलज्ञानी जानता ही है। श्री पञ्चास्तिकाय, पृष्ठ 98, 155 और 224 में केवलज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है - क्रम-करण-व्यवधान-रहित, त्रैलोक्य-उदर-विवर्ति, समस्त वस्तुगत अनन्त धर्म प्रकाशक, अखण्ड प्रतिभासमय केवलज्ञान (गाथा 49, पृष्ठ 98) समस्त वस्तुगत अनन्त धर्म, युगपत प्रकाश द्वारा परम चैतन्य विलास लक्षण द्वारा ज्ञानगुण (गाथा 96, पृष्ठ 155) समस्त वस्तुगत अनन्त धर्मों के युगपत् विशेष परिचित समर्थ केवलज्ञान।

(गाथा 154, पृष्ठ 224 वि० सं० 1972 आवृति)

भविष्य की विकारी पर्याय भी वस्तु का धर्म है और ज्ञेय है, अत: वह पर्याय भी धर्मपने को उल्लंघन नहीं करती है; इसलिए केवलज्ञान, तात्कालिकरूप से विशेष प्रकार से (कुछ भी अवशेष रखे बिना) उसको जानते हैं और ज्ञेय, अपना स्वरूप अकम्पपने ज्ञान को अर्पण करते हैं - ऐसा समझना।

प्रश्न : भविष्य की विकारी पर्याय को अनिश्चित मानने में क्या कोई विचित्रता आती है?

उत्तर : हाँ आती है, उसका खुलासा इस प्रकार है -

भविष्य की पर्याय अनिश्चित माननेवाले को ऐसा होगा कि भगवान के समवसरण में सौ इन्द्र आए, सभा लगी, लेकिन वह सभा कब समाप्त होगी ? – इसका ज्ञान, भगवान को केवलज्ञान में नहीं होगा क्योंकि वह सब विकारी जीवों की और विकारी पुद्गलों की पर्यायें हैं। जब समवसरण उठेगा, तब भगवान के ज्ञान में आएगा, यह विचित्रता होगी अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी, वे सब तो पहले से जान सकते हैं कि वह समवसरण कब उठेगा और भगवान पहले से नहीं जानते – ऐसी विचित्रता विकारी पर्यायों को अनिश्चित मानने में आती है; अत: केवलज्ञान-स्वभाव में तर्क न उठाकर जैसा आगम में कहा है, वैसे सर्व स्वरूप को भगवान जानते हैं – ऐसा मानना चाहिए।

श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री अकलंकदेव कृत राजवार्तिक, श्री समयसार, श्री गोम्मटसार, श्री प्रवचनसार, श्री समाधिशतक, श्री धवल, श्री जयधवल, श्री प्रमेयकमलमार्तंड, श्री राजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक, श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका आदि सब जगह केवलज्ञान का स्वरूप आता है; उन सबका वर्णन करने से यह लेख बहुत बड़ा हो जाएगा, इसलिए यहाँ पर नहीं लिखा है। जिज्ञासु जीवों से स्वयं पढ़ लेने का अनुरोध है।

आगामी विशिष्ट आयोजन

शाश्वत तीर्थधाम में पञ्च कल्याणक महोत्सव

सम्मेदशिखर : शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर की पावन धरा पर निर्मित श्री कुन्दकुन्द कहान नगर में आगामी 24 नवम्बर से 29 नवम्बर 2012 तक श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचन, अध्यात्म जगत के विशिष्ट विद्वानों द्वारा प्रासङ्गिक स्वाध्याय के लाभ के साथ-साथ पावन तीर्थराज की वन्दना का लाभ भी प्राप्त होगा। अत: सभी साधर्मी बन्धुओं से इस अवसर पर सपरिवार, इष्ट मित्रों सहित पधारने का विनम्र अनुरोध है।

निवेदक : श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट,
173-175, मुम्बादेवी रोड, मुम्बई।

प्रभाव : सम्यग्ज्ञान का

(राजा कीचक और द्रोपदी की भवावली)

एक विराट नाम का नगर था। वहाँ राजा विराट राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम सुदर्शना था। उसके यहाँ पाँच पाण्डव और द्रोपदी गुप्तवेष (अज्ञातवास) में रहे। युधिष्ठर तो पण्डित बनकर रहे, भीम रसोईया बनकर रहे, अर्जुन नृत्याङ्गना बनकर रहे, नकुल-सहदेव घोड़ों को सम्भालनेवाले बनकर रहे और द्रोपदी मालिन बनकर रही। राजा विराट के सन्मानसहित एवं यथाशक्ति सुख-शान्ति से सावधानी से गुप्त वेष में रहते हैं।

✦ ✦ ✦

एक चूलिका नाम की नगरी थी। उस नगरी का राजा चूलिका था। उसकी रानी का नाम विकचा था। उनके एक सौ पुत्र थे। उन एक सौ भाईयों में कीचक सबसे बड़ा था और दुराचार में भी बड़ा था। उसको रूपमद, यौवनमद, चातुर्यमद, शूरवीरता का मद और धन का मद था। ऐसे मदों से वह उन्मत्त था। राजा विराट की रानी सुदर्शना, कीचक की बहिन होती थी। कीचक अपनी बहिन से मिलने के लिए विराटपुर आया। वह द्रोपदी को देखकर उस पर कामासक्त हो गया। उस पापी ने यह नहीं जाना कि यह महासती है।

कैसी है द्रोपदी? महासुगन्धित है शरीर जिसका। उस शरीर की सुगन्ध से दसों दिशाएँ सुगन्धित हो जाती है और रूप-लावण्य सौभाग्य गुण से युक्त है। उसके दर्शनमात्र से ही कीचक महामानी होने पर भी, उसका मन द्रोपदी में आसक्त हुआ और दीनता से अनेक उपाय करके द्रोपदी को लोभ दिखाने लगा परन्तु वह महासती, जिसको परपुरुष तृण समान है; उस दुष्ट की बलजोरी से आक्रान्त होकर उसने भीमसेन को सम्पूर्ण वृतान्त से अवगत कराया। भीमसेन के निर्देशानुसार उसने कीचक से झूठी वार्ता करके विश्वास उत्पन्न किया।

महाधीर भीमसेन रात्रि में द्रोपदी का वेष धारण करके कीचक ने जहाँ

सङ्केत दिया था, वहाँ एकान्त में गया। महा कामासक्त कीचक उसी को द्रोपदी समझकर तुरन्त ही उसके पास आया। जैसे हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के वश में होकर गड्डे में गिरने आता है, वैसे ही वह भीमसेन को द्रोपदी समझकर उसके पास आया। भीम ने दोनों हाथो से उसका गला पकड़ा और वहीं जमीन पर पछाड़ दिया, पैरों से मसला, मुक्कों का प्रहार किया और जैसे पर्वत पर वज्र पड़ते हैं, उसी प्रकार कीचक पर भीम की मुट्ठी पड़ी। उस परदारारत कामी कुशील के अभिलाषी को अन्याय का फल दिखाकर भीम ने छोड़ दिया। जो दयावन्त उज्ज्वल मन हैं, वे ऐसे पापी को भी नहीं मारते; समस्त जीवों पर दयाभाव रखते हैं।

कीचक भी पाप का फल प्रत्यक्ष देखकर विषय से विरक्त हुआ और उसके मन में अपने दुष्कृत्य के पश्चाताप के साथ-साथ वैराग्यभाव हिलोरें लेने लगा।

देखो! परिणामों की विचित्रता!! थोड़ी देर पहले विषयाभिलाषा के तीव्र पापपरिणाम और थोड़ी देर बाद शान्तभावरूप वैराग्य परिणाम!

✦ ✦ ✦

वैरागी परिणाम से युक्त कीचक ने रतिवर्धन नाम के मुनि के समीप जाकर मुनिव्रत अङ्गीकार कर लिया और भावों की शुद्धता से भावना भाकर शुद्धरत्नत्रय का आराधन करके वन में ध्यानारूढ़ हुआ।

एक समय एक यक्ष ने उसे ध्यानावस्था में देखा, तब यक्ष ने विचार किया कि यह द्रोपदी के प्रति कामासक्त थे; अतः अब देखूँ कि इनके वैराग्य में कैसी दृढ़ता है ? इस विचार से उस यक्ष ने कीचक मुनि की परीक्षा के लिए अर्द्धरात्रि में द्रोपदी का रूप दिखाया और कामयुक्त,

उन्मादरूप मीठे शब्द सुनाये, परन्तु वे मुनिराज तो उसके शब्द सुनकर भी बहरे के समान हो गये, उसका रूप देखकर भी अन्ध के समान हो गये। रूप महामनोहर विलासरूप, परन्तु अन्धा कैसे देखे ? महासुन्दर शृङ्गाररस से युक्त शब्द, परन्तु बहरा कैसे सुने ?

कैसे हैं कीचक मुनि ? जिन्होंने इन्द्रियसमूह को वशीभूत किया है, जिनका मन शुद्ध हुआ है। उसी समय कीचक मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तब यक्षदेव ने उन्हें नमस्कार करके क्षमायाचना की और पूछने लगा कि 'प्रभो ! आपका द्रोपदी के प्रति मोह होने का क्या कारण है ?' तब कीचक केवली अपने और द्रोपदी के कितने ही पूर्व भव इस प्रकार कहने लगे –

✦ ✦ ✦

'हे यक्ष ! यह तरङ्गिणी नाम की नदी, जिसमें वेगवती नाम की नदी का मिलाप हुआ है, उस नदी के किनारे महादुष्ट क्षुद्र नाम का म्लेच्छ था। वह महापापी, गरीब, जीवों का वैरी था। वह मैं, साधु के दर्शन से शान्त हुआ और मरकर उत्तम मनुष्य हुआ। वहाँ मेरा नाम कुमारदेव था और धनदेव (सोमभूति - अर्जुन का जीव) मेरा पिता और सुकुमारी (नागश्री - द्रोपदी का जीव) मेरी माता थी। उस पापिन ने मुनि को आहार में विष देकर मारा और मुनि हत्या के पाप से नरक में महादु:ख भोगकर तिर्यञ्च हुई। इस प्रकार अनेक भव नरक-तिर्यञ्च के किये। मैं कुमारदेव उसका पुत्र, म्लेच्छ से मरकर उत्तम कुल को तो पाया, परन्तु यति अथवा श्रावक के व्रतों का पालन नहीं किया और अज्ञान से अनेक भवों में भ्रमण किया।

एक सीत नामक तापस था, उसकी मृगसंगिनी नाम की तापसी का मैं मधु नाम का पुत्र हुआ। उस तापस के आश्रम में मैं बड़ा हुआ। एक विनयदत्त नाम के मुनि को किसी एक भाग्यवान पुरुष ने आहारदान दिया, उसके पञ्चाश्चर्यों का अतिशय देखकर मैं मुनि हुआ और वहाँ से स्वर्ग में गया, वहाँ से आकर कीचक हुआ हूँ।

कुमारदेव की पर्याय में सुकुमारी (नागश्री) नाम की मेरी माता ने चिरकाल तक संसार भ्रमण करके दुर्भगा, दुर्गन्धा, अनुमति नामक मनुष्यनी

होकर महादु:ख भोगा। तत्पश्चात् आर्यिका होकर निदानसहित तप किया। जिसके प्रभाव से देवयोनि पाकर फिर द्रोपदी हुई। अनेक भव में उसके और हमारे सम्बन्ध हुए। किसी जन्म में माता, कभी बहिन, कभी पुत्री और कभी स्त्री हुई; इस कारण मुझे उसके प्रति मोह हुआ।

यहाँ गौतमस्वामी, राजा श्रेणिक से कहते हैं कि 'हे श्रेणिक! इस संसारचक्र के परिभ्रमण में संयोग का वियोग होता है। माता मरकर बहिन होती है, बेटी होती है और स्त्री होती है और स्त्री मरकर माता होती है, बहिन होती है, बेटी होती है। – यह संसारचक्र का चरित्र है – ऐसी संसारचक्र की विचित्रता जानकर भव्य जीव, वैराग्य को अङ्गीकार करके मोक्ष के लिए महातप करने का प्रयत्न करो।'

(कीचक ने विषय-वासना के तीव्र प्रभाव से मरणतुल्य मार खाई और उससे तीव्र वैराग्यभाव प्राप्त करके मुनिदीक्षा लेकर उग्र आराधना में उपसर्ग से चालित न होकर केवलज्ञान और मुक्ति की साधना की। जीव अज्ञानभाव से कैसे-कैसे आत्मघातक भाव करता है और सम्यग्ज्ञान के बल से कैसे अपने को संसार से बचाकर मुक्ति को प्राप्त करता है – इस तथ्य का बोध इस कथा से प्राप्त होता है।) ●●

छपते-छपते

तीर्थधाम मङ्गलायतन में दशलक्षण महापर्व के अवसर पर

विशेष आध्यात्मिक व्याख्यानमाला

शाश्वत् पर्व दशलक्षण के पावन अवसर पर इस वर्ष जयपुर से सुविख्यात आयुर्वेदिक चिकित्सक एवं जैनदर्शन के विशिष्ट विद्वान **डॉ. दीपक जैन वैद्य बी.ए.एम.एस., पीएच.डी.** पधार रहे हैं। जिनके द्वारा विशिष्ट स्वाध्याय का लाभ प्राप्त होगा। हमारा सभी आत्मार्थी बन्धुओं से इस अवसर पर तीर्थधाम मङ्गलायतन पधारने का विनम्र अनुरोध है। कृपया अपने पधारने की सूचना अवश्य प्रेषित करें, जिससे आपके आवास आदि की समुचित व्यवस्था की जा सके।

सम्पर्कसूत्र : **अशोक लुहाड़िया :** 9897890893

समाचार-सार

सोनगढ़ यात्रा सानन्द सम्पन्न

सोनगढ़ : 22 जून से 30 जून तक तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा संचालित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के नये प्रवेश हुए मङ्गलार्थियों की सोनगढ़ यात्रा सादर सम्पन्न हुयी। साथ में भगवान श्री महावीर विद्यानिकेतन नागपुर के नये छात्र भी सम्मलित थे। इस यात्रा में विद्वानों सहित 60 छात्र थे। डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर; पण्डित श्री संजय शास्त्री, मङ्गलार्थी ऋषभ जैन एवं आदेश जैन के नेतृत्व में यह यात्रा आध्यात्मिक शिविर के साथ आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुई। यात्रा बड़ोदरा, पावागढ़, सोनगढ़, शत्रुंजय, उमराला, घोघा, भावनगर, अहमदाबाद एवं चैतन्यधाम में स्थापित जिनमन्दिरों के दर्शन, पूजन, भक्ति एवं गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचनों का लाभ प्रतिदिन मिला।

इस यात्रा में पाँच दिन का प्रवास सोनगढ़ में ही रहा। जिससे सोनगढ़ में विद्यार्थियों का पाँच दिवसीय शिविर का माहौल सहज ही उत्पन्न हो गया। सभी स्थानों पर साधर्मियों का भरपूर, सहयोग प्राप्त हुआ।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में अष्टाह्निका पर्व सम्पन्न

तीर्थधाम मङ्गलायतन : 26 जून से 3 जुलाई तक तीर्थधाम मङ्गलायतन में अष्टाह्निका पर्व सानन्द सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पूज्य गुरुदेवश्री के माङ्गलिक सी.डी. प्रवचनों का लाभ प्राप्त हुआ। साथ ही बालब्रह्मचारी श्री सुमतप्रकाश जैन, खनियाधाना द्वारा प्रासङ्गिक स्वाध्याय का लाभ प्राप्त हुआ। जिसका लाभ समस्त मङ्गलार्थियों एवं समागत अतिथियों ने प्राप्त किया।

आगामी कार्यक्रम

भीलवाड़ा में प्रतिष्ठा महोत्सव : दिसम्बर माह में

भीलवाड़ा : श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन आत्मार्थी ट्रस्ट भीलवाड़ा द्वारा निर्मित श्री सीमन्धर जिनालय में स्थापित होनेवाले जिनबिम्बों का पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आगामी दिनाङ्क 24 से 30 दिसम्बर 2012 तक अत्यन्त हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न होगा। इस अवसर पर पूज्य गुरुदेवश्री के माङ्गलिक सी.डी. प्रवचन एवं देश के ख्यातिप्राप्त विद्वानों का मङ्गल सान्निध्य प्राप्त होगा। इस अवसर पर समस्त साधर्मी बन्धुओं से भीलवाड़ा पधारने का विनम्र अनुरोध है।